# खेलते-खेलते ज़िंदगी

## गिरीश कारनाड की आत्मकथा *आडाडत आयुष्य* का पहला अध्याय 'प्राक्'

कन्नड़ से अनुवाद : अतुल तिवारी

मेरी माँ का नाम था कृष्णाबाई। कृष्णाबाई मंकीकर। लेकिन परिवार के सब बड़े उन्हें कुट्टाबाई बुलाते थे और अपने से छोटों के लिए वे कुट्टक्का थीं। 1984 में जब वह बयासी बरस की हुईं, तो मेरी भाभी सुनंदा ने पीछे पड़ कर उनसे उनकी आत्मकथा लिखवा डाली। तक़रीबन तीस पेज लम्बी यह आत्मकथा उन्होंने कोंकणी में लिखी, पिताजी की उन पुरानी डायरियों के ख़ाली हाशियों में  जिसमें वे अपना रोज़ का हिसाब लिखा करते थे। उन पन्नों को पढ़ने से पहले, मेरे भाई-बहन और मैं अक्सर उन शंकाओं, डरों और दु:स्वप्नों को समझने की कोशिश करते थे, जो हमारे बचपन की रातों को झकझोरते रहे थे। माँ की आत्मकथा ने उन भयों को बेनक़ाब करने और उनसे रू-ब-रू करने के ज़रिये हमें उनसे मुक्ति दिलाने में मदद की।

कुट्टाबाई का जन्म 1902 में हुबली में हुआ, पर बचपन में ही वे अपने पिता के साथ पूना चली गयीं जहाँ वे मद्रास और सदर्न मराठा रेलवे के लिए काम करते थे। यही था वह वक़्त जब पूना सामाजिक और कलात्मक हलचलों का हिस्सा बना हुआ था। मराठी भाषा आधुनिकता की चुनौती का सामना कर रही थी— उस साहित्य के साथ जो नये सामाजिक अनुभवों की तलाश में था और ऐसी ऊर्जावान पत्रकारिता से

जो मराठी समाज को स्वतंत्रता के लिए ललकार रही थी। फिर मराठी रंगमंच भी व्यावसायिक शिखर पर था। जहाँ बाल गंधर्व और केशव राव भोंसले जैसे अभिनेता थे, वहीं सम्भ्रांत समाज ने भी उसे मराठी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाला मान लिया था। कुट्टाबाई बड़ी पढ़ाकू थीं। पूना के वे साल उनके जीवन के सबसे सुखमय थे। इस शहर में उपलब्ध शिक्षा के अवसरों से वे सबसे ज़्यादा उत्साहित थीं। महाराष्ट्र में मिशनरियों, समाज सुधारकों और सरकार से प्रेरित स्त्री-शिक्षा के अभियान बड़े ज़ोरदार थे। ऐसे अवसर खुल रहे थे जो पहले कल्पनातीत थे। 'एक सरलाबाई नायक थी, पहली पीढ़ी की, जो एमए हो गयीं', माँ को 75 वर्ष बाद भी याद था।

जब वे 9 बरस की और मराठी के तीसरे दर्जे में थीं, तब उनके पिता का तबादला गदग कर दिया गया, जो कन्नड़ भाषी इलाके में एक छोटा सा क़स्बा था। कुट्टाबाई को अगले कुछ सालों में मिली निराशाओं में से पहली का सामना यहीं करना पड़ा। गदग में शिक्षा की भाषा कन्नड़ थी जो उन्हें शुरू से सीखनी पड़ी। उस भाषा का साहित्य अभी अपने मध्यकालीन बंधनों से नहीं उबरा था। असल में, मराठी परिवेश से चमत्कृत लोग खुले आम कन्नड़ की खिल्ली उड़ाते थे— कि वह कितनी पिछड़ी संस्कृति है। वहाँ का समाज रूढ़िवादी था और लड़कियों की शिक्षा की कोई सुविधा नहीं थी।

'मैं अपनी प्राध्यापिका के पास गयी और रोयी', वे लिखती हैं। 'मैं गदग नहीं जाना चाहती', मैंने कहा, 'मैं बहुत पढ़ना और बी.ए करना चाहती हूँ। वहाँ सुना कुछ है ही नहीं सिवाय कन्नड़ के।'

प्राध्यापिका और उनकी बहन जो हुजुरपागा (एक प्रसिद्ध कन्या पाठशाला) में पढ़ाती थीं, हमारे घर आयीं और मेरे पिताजी से चिरौरी करने लगीं। 'कृष्णी शिक्षा की भूखी है। उसे आप छोड़ जाइए : हुजूरपागा के छात्रावास में रह लेगी। आपको उसकी शिक्षा पर कुछ नहीं खर्च करना है। सरकार रहने-खाने का खर्चा उठायेगी।' पर मेरे माँ-बाप मानने के लिए तैयार नहीं हुए।

डर था कि अगर उन्हें अपने पर पीछे छोड़ दिया गया तो उन्हें ईसाई बना दिया जाएगा।

सो कुट्टाबाई को गदग जाना पड़ा और कन्नड़ पाठशाला भी, जहाँ वह वर्ग में अकेली कन्या थी।

क़रीब आधी सदी के बाद, इस वाकये की बात करते वक़्त, अचानक आँखों में आँसू भर आये। कुट्टाबाई पढ़ने की दीवानी थीं। उनकी सीधी-सादी माँ ने तो दिन-रात किताबें पढ़ने के लिए उन्हें कभी नहीं टोका। पर पिता नाराज़ होते थे कि वे घर के काम में हाथ नहीं बँटाती थीं। शराब की लत लग जाने के बाद उनके पिता किताबें उठा कर किसी कोने में फेंक देते या चूल्हे में झोंक देते। इसलिए कुट्टाबाई को अक्सर छत पर जा कर चाँद की रोशनी में या चादर के नीचे छिप कर टॉर्च की रोशनी में किताबें पढ़नी पड़तीं। जवान होने तक कुट्टाबाई अविवाहित थीं। परिवार वाले इस शर्मनाक स्थिति को रिश्तेदार और पड़ोसियों से छिपाने का हर सम्भव प्रयास करते और माह-दर-माह यही जताते कि सब ठीक-ठाक है। पर आख़िरकार उन्हें गोकर्ण के एक परिवार का लड़का मिल ही गया।

उनकी शादी हो गयी। एक बेटा हुआ : भालचंद्र और दो साल के अंदर ही उनके पति एनीमिया और मलेरिया से गुज़र गये सास-ससुर ने आने की ज़हमत भी नहीं की।

'पिताजी के दिये गये गहनों के अलावा, मेरे पास एक कौड़ी न थी। एक जीवन बीमा की पॉलिसी थी, पर वह भी रद्द हो गयी थी, क्योंकि किसी ने किश्तें ही नहीं भरी थीं'। इस तरह कृष्णाबाई वापस गदग आ गयीं, अपने गोदी के बच्चे के साथ, माँ-बाप के साथ रहने जहाँ कोई भविष्य नज़र नहीं आ रहा था।

यही नियति थी— और अब भी है— भारत के ग़रीब तबक़े की आम मध्यवर्गीय विधवा की। सौभाग्य से, 1920 तक, चित्रापुर सारस्वत ब्राह्मण समाज ने अपनी विधवाओं के मुंडन की प्रथा छोड़